

पूर्व कथन

हमारे विद्यालयों में नैतिक-शिक्षा का एक अधकचरा और मोटा रूप काफी व्यापक है। चाहे वे विद्यालय राजकीय हों या विद्यालयों के नाम से चलाये जाने वाले निजी व्यापारिक प्रतिष्ठान। निजी विद्यालयों में तो नैतिक शिक्षा की पुस्तकें भी पढ़ाई जाती हैं। उन पुस्तकों में दी गई नीति-कथायें कितनी नैतिक हैं और बच्चों पर उनका कितना प्रभाव होता है ये अलग सवाल है। सरकारी पाठ्यपुस्तकों में भी नैतिक-शिक्षा के लिए उपयोगी समझी जाने वाली सामग्री का समावेश आवश्यक माना जाता है। साथ ही पिछले कुछ समय से उस नैतिकता को एक रंग विशेष में रंगने के प्रयास भी हुए हैं। इस बात पर बहस और विरोध भी हुआ है कि भगवा नैतिकता को तरजीह मिले या फिर लाल या धूसर नैतिकता को। पर नैतिक-शिक्षण को लेकर नैतिक मतारोपण, चिंतन परिसीमन या शिक्षण में बल प्रयोग के सवाल कोई नहीं उठाता। ऐसा नहीं है कि हमारे शिक्षाविद् इन सवालों से बेखबर हैं। कारण शायद यह है कि अपने बच्चों पर अपने मतों का आरोपण तो हम अपना अधिकार मानते हैं। माता-पिता भी और शिक्षक भी। पर बढ़ती धार्मिक असहिष्णुता हमें शीघ्र ही इन प्रश्नों पर विचार करने को बाध्य कर देगी।

इसी प्रकार एक प्रश्न आलोचनात्मक विचार का है। हमारे शैक्षिक संवादों में “आलोचनात्मक-विचारणा” की बात कम की जाती है, अधिक व्यापक उपयोग वैज्ञानिक चिंतन का होता है। जैसे कि ये दोनों एक ही चीज हों। शिक्षकों से, शिक्षक-प्रशिक्षकों से एवं अभिभावकों से बातचीत करने में मेरा एक सामान्य अनुभव यह रहा है कि जहां मतारोपण की संपूर्ण संभावनाओं के साथ नैतिक शिक्षा उन्हें आवश्यक लगती है वहीं समालोचक “आलोचनात्मक-विचारणा” के विरुद्ध जोर-शोर से आपत्ति करते हैं। और उनमें से दो आपत्तियां हूबहू उन्हीं तर्कों के साथ उठाते हैं जिन पर श्री करेन ने प्रस्तुत लेख में विचार किया है। ये हैं: नैतिक संशयवाद को बढ़ावा मिलेगा तथा सभी अपने-अपने मन की करने लगेंगे। तर्क बुद्धि एवं संवेदना में कथित आपसी विरोध का भी शिक्षा में कार्यरत बहुत से लोग बढ़ा-चढ़ा कर बखान करते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत लेख शिक्षकों एवं शिक्षाक्रम निर्माण से संबंधित लोगों के लिए काम का लगता है। हालांकि यह लेख पश्चिम के विद्यालयों में नैतिक-शिक्षण एवं आलोचनात्मक विचारणा के लिए हाल ही में चलने वाले प्रयत्नों को ध्यान में रखकर लिखा गया है, पर मूलतः यह व्यापक सवालों पर ही विचार करता है। अतः इसमें उठाये गये बहुत से प्रश्न हमारे भी काम के हैं।

रैण्डल आर. करेन रोचेस्टर विश्वविद्यालय से संबद्ध हैं। प्रस्तुत लेख “आलोचनात्मक विचारणा एवं नैतिक सदगुणों का समन्वयन” “क्रिटिकल थिंकिंग एण्ड द यूनिटी ऑफ वरच्यू” का अनुवाद है जो ‘फिलॉसफी ऑफ एजुकेशन; 1998 (सं. स्टीवन टोजर-मिलर्सविले विश्वविद्यालय) में प्रकाशित हुआ है, यहां साभार पुनर्प्रकाशित कर रहे हैं।

□ रोहित धनकर

आलोचनात्मक विचार और नैतिक सद्गुणों का समन्वयन

□ रण्डेल आर. करेन

शिक्षा सिद्धांत के मौजूदा परिदृश्य में दो प्रमुख शिखर स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। ये शिखर आलोचनात्मक विचारणा एवं नैतिक शिक्षा पर साहित्य के पर्वतों के हैं। इन शिखरों के बीच में एक उपजाऊ बीहड़ फैला है। जहां इन महान शिखरों से बहने वाली धारायें भ्रांति के गहन अरण्य में लुप्त हो जाती हैं। पर्वत शिखरों पर आसीन लोग शंकालु दृष्टि से बीहड़ के पार देखते हैं, ऊंचाईयों में प्राप्त सुरक्षा को छोड़ नीचे घने अंधियारे जंगल में दोस्त और दुश्मन की पहचान कठिन है। यहां अनुमानों और विस्मृति का जंजाल उगा है। शिखरों के सुविधापूर्ण स्थानों के अवलोकन करने पर यह देख पाना सरल नहीं है कि अरण्य तल पर क्या कुछ बिखरा है : यहां अतीत की खोज यात्राओं की धुंधली पगडंडियां हैं। उन खोलियों में अग्रिम शिविरों के खण्डहर हैं। किसी जमाने में बहुत सावधानी पूर्वक विकसित विचारों की तब से मूर्च्छित पड़ी देहों के अंबार हैं। यह सब अनदेखा रहता है। इस तथ्य को भी कम ही देखा जाता है। और उसे भी महत्व नहीं दिया जाता कि पांचवीं शताब्दी के एथेंस में उच्च शिक्षाके उद्भव से ही इस का प्रमुख उद्देश्य सु-निर्णय (फ्रोनेसिस) की क्षमता* रहा है और सुनिर्णय की क्षमता को नैतिक सद्गुण एवंतर्क-बुद्धि (रीजन) की उपज, उनकेमिलन के फल के रूप में देखा जाता था।

दार्शनिक स्मृति का यह लोप सर्वव्यापी नहीं है। पर जब शिक्षण-सिद्धांत और कक्षा-शिक्षण में इस तर्क-बुद्धि एवं नैतिक शिक्षा के भेद को पाटने के लिए बड़े कदम उठाये जा रहे हों उस वक्त भी यह स्मृति लोप अपनी जगह पर स्थिर है। कक्षा-शिक्षण में परिवर्तन बहुत हद तक इसलिए हो रहे हैं कि अभिजात्य उपनगरीय विद्यालयों*** तक के शिक्षक शिक्षा के सामाजिक एवं भावनात्मक पहलुओं को पहले से अधिक बढ़ावा देने के विचार को स्वीकार कर चुके हैं। उन्हें भावनात्मक एवं सामाजिक पहलुओं को बढ़ावा देना विद्यार्थियों की शैक्षणिक उपलब्धियों के आधार के रूप में आवश्यक लगता है, साथ ही विद्यालयों में आपसी सम्मान एवं

सभ्य माहौल बनाये रखने का भी आधार है यह। इन शिक्षकों का कहना है कि 1980 के दशक के मध्य से स्कूली बच्चे बिगड़े हैं - वे अधिक आक्रामक, अपमान करने वाले एवं बेकाबू हुए हैं। उनकी इस बात पर विश्वास के लिए भरपूर कारण हैं तथा यह बिगाड़ बच्चों की देखभाल एवं लालन-पालन में अत्यधिक और बढ़ती हुई कमियों के कारण हुआ है। इन कारणों से उत्पन्न कठिनाइयों के चलते असंख्य विद्यालय जनपदों (स्कूल डिस्ट्रीक्ट्स)**** में “चारित्रिक-शिक्षा” के “सामाजिकता-अभिमुख एवं “केन्द्रीय मूल्यों” संबंधी कार्यक्रमों के प्रयोगों को बढ़ावा मिला। इन में से बहुत से कार्यक्रम स्थानीय समुदाय में केन्द्रीय मूल्यों पर सहमति बनाने के प्रयत्नों के द्वारा आरंभ हुए हैं। नैतिक शिक्षा के ये प्रयत्न सामाजिक एवं भावनात्मक शिक्षण पर हुए शोध से कमोबेश निर्देशित होते हैं। इन प्रयोगों में से कइयों के दोहरे उद्देश्य हैं : सद्य एवं शिष्ट व्यवहार की आदतों को स्थापित करना तथा बच्चों में चिंतन, निर्णय एवं आत्मानुशासन की आदतों को स्थापित करना तथा बच्चों में चिंतन, निर्णय एवं आत्मानुशासन की क्षमताओं का विकास करना। इन का उद्देश्य बच्चों को अधिक विचारशील बनाना है। अर्थात् नैतिक दृष्टि से दूसरों का ध्यान रखने वाले तथा कुछ करने से पहले ठीक से सोच विचार करने वाले बनाना भी।

इस प्रकार हम व्यवहार में एक ऐसे दौर से गुजर रहे हैं जब बच्चों को आम नैतिकता (सार्वजनिक नैतिकता के अर्थ में)-शिष्ट व्यवहार के मानदण्ड, आपसी सम्मान एवं विचारशीलता में प्रयत्न करने पर फिर से जोर दिया जाने लगा है। इस आन्दोलन में लगे अनेक लोगों द्वारा इसे प्रबुद्ध आत्मानुशासन की तैयारी माना जाता है। इसे शास्त्रीय सद्गुण-सिद्धांत की भाषा में ढाले बिना वे कमोबेश स्पष्टता के साथ यह स्वीकार करने लगे हैं कि नैतिक एवं बौद्धिक सद्गुणों में स्वभाविक एकत्व है, कि दोनों में से कोई भी अकेला अलग शुभ नहीं है। यह अभी तक नैतिक शिक्षा एवं आलोचनात्मक विचारणा के पूरे शिक्षण का समन्वयन नहीं है पर इस समन्वयन की दिशा में गति आवश्यक है।

इस सब से मेरा यह मत बना है कि नैतिक शिक्षण एवं

* पश्चिम में उच्च शिक्षा का उद्भव 5 वीं शताब्दी एथेंस से ही मानने का रिवाज लगता है। भारत में निश्चय ही तक्षशिला विश्वविद्यालय उससे कोई आठ सौ वर्ष पहले ही ख्याति प्राप्त कर चुका था।

** यह बात योरोपीय एवं अमीरकी नगरों के लिए कही गई है जहां उपनगरीय क्षेत्रों में अधिक धनी लोग रहते हैं और उनके बच्चे पड़ौस के विद्यालयों में पढ़ाई करते हैं।

*** पश्चिम के कई देशों में स्कूल डिस्ट्रिक्ट्स हैं। एक क्षेत्र-विशेष के विद्यालय स्थानीय शिक्षा प्राधिकरण (लोकल एजुकेशन अथॉरिटी) के द्वारा नियंत्रित होते हैं।

आलोचनात्मक विचारणा के शिक्षाक्रम को संश्लेषित करने के खतरों की जांच करने के पर्याप्त कारण हैं। ये कारण दार्शनिक एवं व्यावहारिक दोनों ही प्रकार के हैं। कम से कम प्रथम दृष्टि में तो संश्लेषण की इस योजना में तनाव है ही। यह तनाव दोनों पक्षों - नैतिक शिक्षण एवं आलोचनात्मक विचारणा शिक्षण के पक्षधरों द्वारा एक दूसरे पर लगाये जा सकने वाले आरोपों से उपजता है। इस लेख में मेरी कार्यनीति यह होगी : मैं इन आरोपों की सूची बनाऊंगा जो एक दूसरे पर ये लोग लगा सकते हैं, इन आरोपों से उत्पन्न तनाव को चिन्हित करूंगा और नैतिक शिक्षण परंपरा द्वारा इस समस्या को सुलझाने के प्रयासों पर एक नजर डालूंगा। वे सभी छः आपत्तियां जिन पर मैं विचार करूंगा अपनी प्रकृति से नैतिक हैं। अतः मेरा विश्लेषण यहां नैतिक शिक्षण एवं आलोचनात्मक शिक्षण के संश्लेषण के नैतिक पहलू तक ही सीमित है। इस संश्लेषण के राजनैतिक, विकास संबंधी एवं शिक्षण-विधि संबंधी पहलुओं की जांच को मैं अन्य विद्वानों एवं अन्य अवसरों के लिए छोड़ रहा हूं। यहां जिन समस्याओं और आपत्तियों पर विचार करेंगे उन्हें मैं इस प्रकार व्यक्त करता हूं : 1. नैतिक मतारोपण की समस्या, 2. विकल्पों के बन्द होने की समस्या, 3. शिक्षण में बल प्रयोग की समस्या, 4. संशय की समस्या, 5. स्थानीय विविधताओं की समस्या और 6. स्वैच्छाचारिता की समस्या। नैतिक मतारोपण एवं स्वैच्छाचारिता की समस्यायें मिलकर एक विरोधाभास को जन्म देती हैं जिसे मैं प्रगतिशील नैतिकता का विरोधाभास कहूंगा।

नैतिक मतारोपण - नैतिक शिक्षा के बारे में एक आम डर यह होता है कि यह अनिवार्यतः मतारोपणकारी होगी। मतारोपणकारी इस अर्थ में कि इससे कुछ ऐसे विश्वासों को मन में स्थापित किया जायेगा जो स्पष्टतः सत्य नहीं हैं और यह स्थापना भी इस तरह की होगी कि आगे चलकर इन विश्वासों को मन से निकालना आसान नहीं होगा। यह सामान्यतः माना जाता है कि बच्चों की तर्क बुद्धि को विकसित होने में समय लगता है, और जब तक तर्क-बुद्धि विकसित नहीं होती उनके विश्वासों को चालाकी से प्रभावित किया जा सकता है। यह भी माना जाता है, जैसा कि प्लेटो और अरस्तु ने माना है, कि हमें बचपन में जो आदतें डाल दी जाती हैं वे लम्बे समय तक हम जो चाहते हैं और जिसे अच्छा मानते हैं उसको प्रभावित करती हैं। एक तीसरी मान्यता, यह भी प्लेटो और अरस्तु के चिंतन में स्पष्ट है; यह है कि जब तक उन के पालन पोषण में वे अच्छे आदर्शों से घिरे न रहें और जब तक उनको अच्छी आदतों की तरफ निर्देशित नहीं किया जाये, बच्चे न तो नैतिक सद्गुणों से युक्त बनते हैं न ही विवेकशीलता के प्रति संवेदनशील। इन मान्यताओं के आधार पर यह सोचें तो नैतिक आदतें स्थापित करना दोनों ही होता है। आलोचनात्मक विचारणा

के विकास की आवश्यक शर्त भी और इस के मुक्त विकास में बाधक भी। यह स्पष्ट ही लगता है कि व्यक्ति जिसे शुभ मानते हुए बड़ा हुआ है उस शुभ की अवधारणा की निष्पक्ष जांच करने के लिए बहुत अच्छी स्थिति में नहीं होगा। क्योंकि उसे जिसकी आदत हो चुकी है उसी को शुभ मानने की प्रवृत्ति उसमें होगी।

विकल्पों के बन्द होने की समस्या - दूसरी इससे जुड़ी समस्या या चिंता यह है कि अच्छे की वैकल्पिक धारणाओं को दबाने के कारण नैतिक आदतों का अभ्यास जीवन के विकल्पों को सीमित करता है। बच्चे का खुले भविष्य का कथित अधिकार इससे बाधित होता है।

शिक्षण में बल प्रयोग की समस्या - एक तीसरी चिंता यह है कि नैतिक आदतों को स्थापित करने में बल प्रयोग अनिवार्य है। अतः यह नैतिक रूप से संदिग्ध है खास कर सरकारी विद्यालयों में। यदि नैतिक आदतों की स्थापना बच्चों में तर्क-बुद्धि के विकास से पहले; अतः उसका लाभ लिये बिना; करनी हो तो बल प्रयोग पर काफी निर्भरता होगी, यह अनिवार्य लग सकता है। अरस्तु के शिक्षण सिद्धांत पर पीटर सिम्पसन का काम ठीक इसी विचार का उदाहरण है। यहां वे आग्रह करते हैं कि अरस्तु के अनुसार बनने में सदाचार की आदतों को बल प्रयोग से ही स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि तार्किक आधार पर समझ कर उन्हें आदतों में नहीं ढाला जा सकता।

संशय की समस्या - इसको दूसरी तरफ से देखें तो यह चिंता हो सकती है कि बच्चों को तर्क के विनाशकारी खेल में बहुत ही आसानी से प्रवृत्त कर दिया जाता है। एक बार तर्क की आलोचनात्मक संस्कृति में पैठ जाने के बाद वे स्वयं को और एक दूसरे को बहुत प्रभावशाली तरीके से एक 'छिद्रान्वेषी तेजाब' में धो सकते हैं। और यह छिद्रान्वेषी तेजाब उन्हें संस्कृति, समुदाय और परंपरा के सुरक्षा कवचों से वंचित करके बहुत सुदृढ़ नैतिक ताने बाने को भी खा डालता है। सिर्फ यह कल्पना करनी पड़ती है - उपरोक्त चिंता से ग्रसित होने के लिए कि आलोचनात्मक चिंतक की प्रवृत्ति केवल उसी चीज पर विश्वास करने की होती है जिस पर विश्वास के यथेष्ट तार्किक कारण हों। और नैतिकता का तो कोई तार्किक आधार नहीं है, या कम से कम आसानी से खोजा जा सकने वाला तार्किक आधार तो नहीं ही है।

स्थानीय विविधताओं की समस्या - पांचवी समस्या यह है कि यदि नैतिकता के कोई तर्क-बुद्धि सम्मत आधार हों तो भी लगभग तय है कि जायज स्थानीय भेद होंगे ही क्योंकि सामाजिक समन्वयन की कुछ समस्याओं का कोई एक मात्र सर्वश्रेष्ठ हल नहीं होता। भिन्न भिन्न हितों में संतुलन को कुछ हद तक अलग अलग तरह से साधा जा सकता है; और इस तरह प्रत्येक स्थानीय नैतिक समुदाय थोड़ा-थोड़ा असंतुष्ट रह जायेगा, एक समुदाय इस मुद्दे पर

तो दूसरा उस मुद्दे पर। अतः जो स्थानीय है वह यहां एक अर्थ में मनमानापन लग सकता है। और यह बात इसे आलोचनात्मक जांच के सामने नाजुक बना देती है, फिर चाहे वह कितना भी मूल्यवान एवं स्थानापन्न विहीन क्यों न हो।

स्वैच्छाचारिता की समस्या - यदि नैतिकता के लिए सरलता से बोधगम्य कोई तार्किक सामान्य (व्यक्ति के अर्थ में) आधार हो भी; और स्थानीय नियमों के लिए भी ऐसा आधार उपलब्ध हो; तो भी एक डर बना रहता है। लोगों को लग सकता है कि समालोचनात्मक विचारणा की शिक्षा बच्चों को स्वहित के पक्ष में तर्क करने के लिए निडर बनायेगी। उन्हें सामुदायिक नैतिकता को दरकिनार करके स्वैच्छाचारिता की तरफ बढ़ायेगी। जो नैतिकता की मांग की सीमाओं में रहते हैं उनके आत्मसंयम का फायदा उठाने की धृष्टता को बढ़ावा देगी। नैतिकता को व्यवहार को निर्देशित करने वाले मानदण्डों के रूप में देखे तो इस का आशय यह होगा कि यह कर्म के चुनाव के ऐसे आधार प्रस्तुत करती है जिन्हें चुनाव के सभी वैकल्पिक आधारों पर तरजीह मिलनी चाहिये। इस दृष्टि से नैतिकता के मानदण्ड सामाजिक समन्वयन की समस्या के समाधान होते हैं। इन मानदण्डों के अनुसार आचरण करने से सभी को आपसी फायदा होता है और यही आपसी लाभ, दूर दृष्टि से देखें तो, हमें नैतिकता की सीमा में व्यवहार करने वाले समुदाय के साथ जीवन को तरजीह देने के लिए तार्किक आधार प्रस्तुत करता है। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं जो यह समझते हैं कि कैसे उपरोक्त तर्क नैतिकता को तर्क बुद्धिशील आधार प्रदान करता है। पर यह प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार पर कुछ सीमाओं की मांग भी करता है। हो सकता है कि ये लोग इन मांगों को पूरी तरह स्वीकार न करें। उदाहरण के लिए नैतिकता की यही मांग कि व्यक्तिगत हित/अहित में तर्क पर नैतिकता के तर्क को तरजीह देनी चाहिये। नैतिकता के लाभ हैं। पर इन लाभों की कीमत भी है : यह कीमत है अपनी स्वतंत्रता पर इस तरह अंकुश लगाना कि हम अपने ही तर्कों के आधार पर स्वनियंत्रित व्यवहार करें। अपनी स्वतंत्रता को सीमित करने की इस सहमति को सामाजिक प्रतिज्ञा कह सकते हैं। पर जिसे अपने लिए स्वयं सोचने की एवं आलोचनात्मक विचारणा की शिक्षा दी गई हो, ऐसे व्यक्ति के लिए उपरोक्त विचार तर्क-बुद्धि की कसौटी पर कितने खरे उतरेंगे ?

थॉमस हॉब्स के अनुसार वह स्थिति जिस में “प्रत्येक व्यक्ति अपने ही तर्कों से नियंत्रित है,” आवश्यक रूप से “एक युद्ध की स्थिति होती है।” ऐसी स्थिति में कोई मूर्ख सामाजिक प्रतिज्ञा के अस्तित्व को बिना नकारे भी इस बात पर सवाल उठा सकता है कि अन्याय कभी कभी उस तर्क के साथ हो सकता है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपना ही हित देखने को बाध्य करता है। वह इस बात पर सवाल उठा सकता है कि सामाजिक प्रतिज्ञा को भंग करना

तर्क-बुद्धि के विरुद्ध है। “क्योंकि शब्दों की ताकत लोगों से उनकी प्रतिज्ञाएं पूरी करवाने के लिए कम है” और सदगुण बहुत दुर्लभ है; अतः हॉब्स कहता है कि हमें किसी प्रभुसत्ता को यह अधिकार देना चाहिये कि वह शस्त्र-बल से नैतिकता को स्थापित कर सके तथा वैचारिक स्वतंत्रता का दमन कर सके। हॉब्स के इस असंगत रूप से अनुदार हल का विरोध हमें किसी सैद्धांतिक आधार पर करना हो तो दो में से एक बात सिद्ध करनी होगी। या तो हम यह सिद्ध करें कि सदाचरण की आदतें; और वे भावनायें, रुझान और वह दृष्टि जिनसे वे आदतें बनी हैं; आलोचनात्मक विचारणा के दुष्प्रभाव हों तो भी उन को दुष्प्रभावों को दूर करने में समर्थ होंगी। वे आदतें इतनी दृढ़ होंगी कि आलोचनात्मक विचारणा के संभावित दुष्परिणामों को प्रभावी न होने दें। या फिर हमें यह सिद्ध करना होगा कि आलोचनात्मक विचारणा स्वयं ही न्यायपूर्ण व्यवहार का समर्थन करेगी, कि आलोचनात्मक विचारणा पर हम भरोसा कर सकते हैं कि वह स्वयं ही नैतिकता के पालन के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करेगी।

आपत्तियों की इस सूची पर ध्यान दें तो हम पायेंगे कि तीन आपत्तियों में यह चिंता जाहिर होती है कि नैतिक शिक्षा व्यक्ति स्वतंत्रता को बाधित करेगी। तथा अन्य तीन में यह चिंता जाहिर होती है कि आलोचनात्मक विचारणा की मुक्तिदायिनी क्षमता सामान्य नैतिकता के प्रति प्रतिबद्धता को कमजोर करेगी। छः में से कम से कम चार आपत्तियां आरंभ से ही दर्शन की चिंतायें रही हैं और शिक्षा दर्शन के तो सदा ही केन्द्र में रही हैं। स्थानीय विविधताओं की समस्या तथा विकल्पों के बन्द होने की समस्यायें ही उपरोक्त कथन के दो अपवाद हैं। आगे मैं इन अंतिम दो आपत्तियों पर विचार नहीं करूंगा, तथा अन्य चार के दार्शनिक परंपरा में स्थान पर संक्षिप्त टिप्पणी के साथ विचार आरंभ करूंगा।

प्लेटो के ‘रिपब्लिक’ की पहली पुस्तक में थ्रासिमस तर्क देता है कि कानून का उद्देश्य केवल शासकों को लाभ पहुंचाना होता है। कानून बनाने वाले यह “घोषित करते हैं कि उन का बनाया कानून शासितों के लिए भी न्यायोचित है पर वह होता उनके अपने लाभ के लिए ही है।” इस तर्क में थ्रासिमस सुकरात के सामने मतारोपण की चुनौती प्रस्तुत करता है। इस चुनौती का सुकरात की निषेधात्मक प्रश्नोत्तर विधि के पास कोई जबाब नहीं है। पर प्लेटो को आशा है कि इस का जबाब दे सकेगा। “निषेधात्मक प्रश्नोत्तर-विधि” द्वंदात्मक तर्क की ऐसी विधि है जो मान्यताओं के किसी समुच्चय में विरोधाभासों को दूर कर सकती हैं पर इस विधि में सत्य मान्यताओं के संगत समुच्चय पर पहुंच पाने की कोई आशा निहित नहीं है। निषेधात्मक प्रश्नोत्तर विधि से सत्य मान्यताओं के संगत समुच्चय पर पहुंचने की आशा तभी बनती है जब आरंभ से ही विवेचित समुच्चय में सत्य का अंश असत्य से अधिक हो। योजनाबद्ध

गलती; जो जानबूझ कर धोखा देने के लिए खड़ी की जा सकती है; के सामने यह विधि निस्सहाय हो जाती है। इससे यह संकेत मिलता है किसी समाज के मूल्यांकन का कोई ऐसा आधार होना चाहिये जो उस समाज से जो सिखाया जाता है उससे स्वतंत्र हो। अर्थात् किसी समाज के अच्छे-बुरे की जांच उसी समाज में सीखी हुई अच्छे-बुरे की धारणाओं के आधार पर संभव नहीं है।

पारंपरिक नैतिकता के प्रति थ्रासिमस के सतत् तिरस्कार को भी नैतिक संशयवाद की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है। इस नैतिक संशयवाद का उत्तर प्लेटो के नैतिक ज्ञान के सिद्धांत में दिया गया है।

दूसरी तरफ ग्लाउकोन की दूसरी पुस्तक में आने वाली चुनौती नैतिक स्वैच्छाचारिता की चुनौती है। यहां यह पता चलता है कि नैतिक स्वैच्छाचारिता की समस्या कैसे उन लोगों में भी उठ सकती है जो सामान्य नैतिकता के विकास व उसकी स्थापना के लिए सामाजिक प्रतिज्ञा के तर्क को स्वीकार करते हैं। इसी नैतिक स्वैच्छाचारिता की समस्या का उत्तर देने की आशा में प्लेटो ने 'रिपब्लिक' की पुस्तक दो से नौ तक का अधिकांश भाग लिखा है। यहां प्लेटो ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि सद्गुण केवल शुभ (अच्छे) के लिए एक उपकरण भर नहीं है जो सुख शांति से केवल बाहरी (ऊपरी) तौर पर संबंधित हो। बल्कि सद्गुण चेतना का एक आंतरिक शुभ है जिसके बिना कोई भी सुख शांति संभव नहीं है। रूसो भी जब हमें यह समझाने की कोशिश करता है कि एमाइल निर्देशन के बिना भी स्वाभाविक नैतिक नियमों को खोज लेगा तो आंशिक रूप से इसी समस्या का उत्तर देने का प्रयत्न करता है। रूसो यह भी कहता है कि इसी तरह बिना निर्देशन के एमाइल भौतिकी के नियम, ईश्वर एवं मरणोपरांत जीवन आदि के नियमों की खोज भी कर लेगा।

थ्रासिमस शिक्षण में बल प्रयोग की समस्या को भी उतने ही बलपूर्वक प्रस्तुत करता है जितना मतारोपण की समस्या को। प्लेटो का आग्रह है कि श्रेष्ठ समाजों में बच्चों को संगीत एवं कविता में निहित आकर्षण के माध्यम से शिक्षित किया जाता है, बल प्रयोग द्वारा नहीं। बल प्रयोग द्वारा शिक्षण तो निकृष्ट समाजों में होता है। प्लेटो के 'रिपब्लिक' एवं जोन लॉक के ग्रंथों में शिक्षण में बल प्रयोग पर निर्भरता युक्ति के प्रति संवेदनशीलता के विकास में बाधक होती है। यह विचार भी है कि बल प्रयोग बहुत ही कम करना चाहिये क्योंकि बच्चे उनका अनुकरण करने को तत्पर रहते हैं जिन की प्रशंसा की जाती है तथा जिनको अच्छा माना जाता है। साथ ही जो लोग बच्चों की देखभाल करते हैं उनके मापदण्ड एवं जीवन के तरीकों को भी बच्चे सहज ही स्वीकार कर लेते हैं।

इस अति संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण से पता चलता है कि मतारोपण एवं नैतिक स्वैच्छाचारिता की समस्यायें सबसे ज्यादा चुनौतीपूर्ण हैं। बल प्रयोग की समस्या तो बच्चों को अच्छे के लिए बिना बल प्रयोग के प्रेरित करने के तरीकों को अनदेखा करने से पैदा होती है या विवेक पर आधारित युक्ति की बाध्यकारी क्षमता की अनदेखी करने से उभरती है। प्लेटो, अरस्तू और लॉक सभी बच्चों को शुभ के प्रति बिना बल प्रयोग के प्रेरित करने के तरीकों की अच्छी खासी समझ रखते थे। कहने का तात्पर्य यह कि मुख्य समस्यायें मतारोपण एवं स्वैच्छाचारिता की ही हैं। साथ ही जिसे कई बार मतारोपण की समस्या का समुचित हल मान लिया जाता है वह उस का हल है नहीं। मतारोपण की समस्या को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि मतारोपण में ऐसे विश्वासों का आरोपण होता है जो स्पष्ट तौर पर सत्य न हों। समस्या को हल करने के लिए कई बार यह मान लिया जाता है कि यदि बच्चों के मन में उन्हीं विश्वासों को स्थापित किया जाये जो 'स्पष्टतः सत्य' हैं तो मतारोपण की समस्या उठती ही नहीं है। मुझे लगता है कि मतारोपण की समस्या का यह हल काफी समझदारीपूर्ण है। साथ ही मैं यह भी कह सकता हूँ कि कई स्कूल डिस्ट्रिक्ट्स जब नैतिक शिक्षा का काम उठाते हैं तो इस बात का ध्यान भी रखते हैं कि बच्चों को "स्पष्टतः सत्य" विश्वासों की ही शिक्षा दें। ऐसे स्कूल डिस्ट्रिक्ट्स के नैतिक शिक्षा कार्यक्रमों की सूची में अहिंसा एवं आपसी सम्मान तो होते हैं पर यौन रुझानों, स्त्री-पुरुष की भूमिका तथा परिवार की परिभाषा संबंधी विश्वास नहीं होते। जब एक स्कूल डिस्ट्रिक्ट्स के विभिन्न समुदायों को एक साथ मेज पर बातचीत के लिये लाया जाता है तो शंका यह रहती है कि नैतिक शिक्षा में 'किस के मूल्यों' की शिक्षा दी जायेगी। पर जल्द ही यह शंका एक आम सहमति में तिरोहित हो जाती है और वे बिन्दु जिन पर यह आम सहमति बननी है। विभिन्न डिस्ट्रिक्ट्स में बहुत ही एक जैसे होते हैं। आम सहमति वाले नैतिक मूल्यों को ढूँढ पाने में यह सफलता चाहे कितनी भी संतोषजनक क्यों न लगती हो हमें अपनी सामूहिक रूप से भ्रमित हो जाने की संभावना को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। अपनी सामूहिक रूप से भ्रमित होने की संभावना की स्वीकृति तथा साथ ही नैतिकता के विकास की संभावना की स्वीकृति हमें एक ऐसे नैतिक समुदाय को आदर्श मानने को प्रेरित करती है जिस की एकता उन नैतिक सिद्धांतों पर निर्भर करती है जिनका सार्वजनिक मूल्यांकन तथा जिन में संशोधन संभव हैं। अर्थात् एक ऐसा नैतिक समुदाय जो अपने लिए मूलभूत नियमों को स्वयं ही परिभाषित करता है और कालांतर में इन नियमों को संशोधित करते हुए नैतिक विकास करता है। अतः यदि हम नैतिक शिक्षा में इस बात का ध्यान रखते हैं कि आम सहमति वाले मूल्य ही सिखायेंगे पर उन मूल्यों को सिखाते इस तरह हैं कि उनसे

भिन्न चिंतन की संभावना को ही बाधित कर दें तो विकासमान नैतिकता के आदर्श के साथ समझौता कर रहे होंगे अर्थात् मतारोपण का एक स्वरूप समस्या के इस हल में भी विद्यमान रहता है।

इसी तरह संशयवाद की समस्या भी नैतिक स्वैच्छाचारिता की समस्या की तुलना में एक सरल समस्या है। हालांकि समय-समय पर नैतिक संशयवाद का फैशन चलता रहता है पर नैतिकता को सामाजिक करार के रूप में देखने वाली विचारधारा न केवल सैद्धांतिक दृष्टि से आकर्षक लगती है बल्कि व्यवहार में भी सरलता से स्वयंसिद्ध के रूप में ग्राह्य होती है। नैतिकता को सामाजिक करार के रूप में देखने का आशय है यह मानना कि आपसी सम्मान संबंधी कर्तव्यों को स्वीकार करना सभी के लिए हितकर है अतः तर्क-बुद्धि सम्मत है। कम से कम आत्मनियंत्रण तो आपसी हित में माना ही जाता है। पर इस तरह से संशयवाद की समस्या को यदि हल हो गया मान भी लिया जाये तो भी नैतिक स्वैच्छाचारिता की समस्या तो अनसुलझी ही रहती है।

मतारोपण एवं स्वैच्छाचारिता की समस्याओं को एक साथ देखें तो एक दुविधा की स्थिति पैदा होती है, जिसे चाहें तो प्रगतिशील नैतिकता का विरोधाभास (पैराडाक्स ऑफ प्रोग्रेसिव मोरेलिटी) कह सकते हैं।

1. व्यक्ति जिन नैतिक मान्यताओं का अभ्यस्त हो जाता है उन्हीं की आलोचनात्मक विवेचना की क्षमता मान्यताओं के अभ्यास के साथ ग्रहण की गई दृष्टि एवं भावनाओं के कारण सीमित हो जाती है। यह बात या तो सत्य है या सत्य नहीं है।

2. यदि यह बात सत्य है तो नैतिक मान्यताओं के किसी भी सुसंगत ढांचे की आंतरिक सार्वजनिक विवेचना (उसी समाज के अंदर से विवेचना) संभव नहीं है। अतः इस नैतिक ढांचे में पाले-पोषे गये लोगों में से किसी के पास भी इस बात की कोई तार्किक आश्वस्ति नहीं है कि यह नैतिक ढांचा स्वयं ही अपूर्ण नहीं है।

3. यदि यह बात (बिन्दु 1) सत्य नहीं है (अर्थात् जिस नैतिकता में हम बड़े होते हैं उसकी आलोचनात्मक समीक्षा की हमारी क्षमता सीमित नहीं होती) तो वह दृष्टि और भावनार्ये जो हमें नैतिकता को अन्य विकासों पर तरजीह देने के लिए बाध्य करती हैं आलोचनात्मक विचारणा के कारण कमजोर पड़ती जायेंगी और व्यक्ति को नैतिक स्वैच्छाचारिता की तरफ ले जायेंगी।

संक्षेप में समस्या यह है कि कैसे नैतिकता में हमारी दृढ़ निष्ठा भी हो और उसे सार्वजनिक विवेचना एवं संशोधन के लिए खुला भी रखा जाये? लगता है इन दोनों गुणों में से एक को दूसरे की कीमत पर ही प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् या तो नैतिकता में दृढ़ आस्था संभव होगी या फिर विवेचना एवं संशोधन के लिए खुलापन। दोनों एक साथ नहीं।

ऐतिहासिक एवं आधुनिक दोनों दार्शनिक परंपरायें यह अभिलाषा रखती हैं कि नैतिक स्वैच्छाचारिता की समस्या को सैद्धांतिक स्तर पर यह सिद्ध करके हल किया जाये कि नैतिक होना तर्क-सम्मत (रेशनल) है। पर आधुनिक एवं ऐतिहासिक परंपराओं का मतभेद इस बात पर है कि आवश्यक नैतिक ज्ञान सरलता से प्राप्य है या नहीं तथा क्या यह ज्ञान व्यक्ति के पूर्व अर्जित नैतिक विश्वासों से अप्रभावित रहता है। यदि यह संभव है कि नैतिक ज्ञान सरलता से प्राप्य है तथा हमारे पूर्व नैतिक विश्वासों से स्वतंत्र रहता है तो उपरोक्त दुविधा (प्रगतिशील नैतिकता का विरोधाभास) का हल संभव है। यह संभावना वहीं तक है जहां तक हम सभी के नैतिक ज्ञान प्राप्त करने की संभावना है, और इसी में निहित भी है।

प्लेटो और अरस्तू के विचार से नैतिकता का अभ्यास (आदत बनाना) एवं सत्य नैतिक विश्वासों में आस्था वह आवश्यक आधार भूमि है जिस पर व्यक्ति का युक्तियुक्त होना तथा नैतिक प्रज्ञा प्राप्त करना निर्भर करता है। साथ ही प्लेटो और अरस्तू के विचार से इस प्रकार की नैतिक प्रज्ञा की प्राप्ति विरलों को प्राप्त होने वाली उपलब्धि है। अतः बहुत कम व्यक्ति ही पूरी तरह सदाचारी (सदगुणी) बन पाते हैं। जो सदगुणी बनते हैं वे समझ जायेंगे कि क्यों सुखी जीवन के लिए सदाचरण आवश्यक है। तथा उन की तर्क-बुद्धि अच्छे (शुभ) की जिस धारणा के प्रति वे सहज बन गये हैं उसका अनुमोदन ही करेगी। पर अधिकांश लोग कभी भी वह क्षमता या ज्ञान प्राप्त नहीं कर पायेंगे जिसके सहारे अपने नगर (अपने समुदाय) की नैतिकता का आंकलन कर सकें। तथा उन लोगों की आदतन नैतिकता में निष्ठा बनाये रखने के लिए थोड़ा कानूनी बल प्रयोग करना ही पड़ेगा, इस कानून में नैसर्गिक नैतिक नियम अंतर्निहित होंगे।

इसके विपरीत आधुनिक काल के आरंभ में इस विचार ने बल पकड़ा कि विश्वास एवं तर्क-बुद्धि समान नतीजों पर पहुंचते हैं, पर ऐसा एक दूसरे से स्वतंत्र रहते हुए करते हैं। नैसर्गिक तर्क-बुद्धि एवं नैसर्गिक मजहब की मान्यताओं के अनुसार मानव को प्रकृति से उपहार स्वरूप ऐसी तर्क बुद्धि प्राप्त हुई जिससे वह स्वयं अपने भीतर ही ईश्वर का ज्ञान, नैतिक ज्ञान एवं मृत्योपरांत जीवन के बारे में ज्ञान खोज पाता है। इस तरह का ज्ञान हमें आश्वस्त करेगा कि सदगुण एवं सदाचरण लाभ का सौदा है तथा यह ज्ञान मानवीय नियमों एवं रीतिरिवाजों का एक निरपेक्ष मापदण्ड भी साबित होगा। इन मान्यताओं के चलते यह आशा बंधी कि योरोप के धर्मसुधार युद्ध समाप्त हो सकेंगे। इस आशा के पीछे सोच यह थी कि योरोप

के देश अपनी-अपनी पारंपरिक मजहब की निष्ठा को एक दूसरे पर थोपने का संघर्ष बन्द कर सकते हैं क्योंकि सभी ईसाई मतमतांतरों को नैसर्गिक मजहब के स्वयंसिद्ध तत्व मान्य होंगे और यह बात उन्हें एक दूसरे के करीब लायेगी ।*

इस संभावना के प्रति मैं बहुत आशान्वित नहीं हूँ । मुझे यह संभव नहीं लगता कि ऐसा नैतिक ज्ञान आसानी से तथा व्यापक स्तर पर प्राप्त होगा जो न केवल उस नैतिकता को जांचने का एक निरपेक्ष मानदण्ड बन सकेगा जिस में हम बड़े हुए हैं बल्कि नैतिक बने रहने को हमें बाध्य भी कर सकेगा । यदि ऐसा नैतिक ज्ञान व्यापक स्तर पर संभव नहीं है तो “प्रगतिशील नैतिकता के विरोधाभास” की समस्या के हल की क्या संभावनायें बचती हैं ? मैं आप के सामने चार संभावनायें प्रस्तुत करता हूँ ।

पहली संभावना । यह तर्क दिया जा सकता है कि मूल नैतिक सिद्धांतों को पहचानने (जानने) में मानवीय समुदाय के सामूहिक रूप से भ्रमित हो जाने की संभावना पर हम गलत जगह जोर दे रहे हैं । कहा जा सकता है कि जिसे हम नैतिक प्रगति कहते हैं वह मूल सिद्धांतों को अधिक संगत एवं संवेदनशील तरीके से लागू करने में ही होती है, कि मूल नैतिक सिद्धांत तो वही रहते हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहे हैं । इस तर्क को मानें तो लोगों के मन में उन मूल सिद्धांतों को सदा के लिए दृढ़ता से स्थापित करने में कोई हानि नहीं है जिन को मानते हुए उन का लालन-पालन किया गया है । इस तर्क के आधार पर वे मनोभाव, वह व्यवहार एवं अच्छे की वह धारणा जो बचपन में सिखाई गई है; इन सबसे परिसीमित नैतिक सोच में कुछ भी बुराई नहीं है । इस प्रकार का नैतिक शिक्षण लोगों को नैतिक स्वच्छाचारिता की संभावनाओं का लाभ उठाने से बचायेगा । साथ ही आलोचनात्मक विचारणा के विकास एवं नैतिक विवेचना से मूल नैतिक सिद्धांतों को अधिक संवेदनशीलता एवं अधिक सृजनात्मकता के साथ लागू करने की क्षमता के विकास की संभावनायें भी बनती हैं । इस तरह नैतिक प्रगति होती रह सकती है ।

दूसरी संभावना । यह कल्पना की जा सकती है कि तर्क-बुद्धि का विकास हमें इस मनोभाव से मुक्त कर देगा कि जिसे हम तर्क के आधार पर सर्वश्रेष्ठ निर्णय समझते हैं उस की क्रियान्विति भावनात्मक कारणों से हमारे लिए संभव न भी हो ? अर्थात् तर्क बुद्धि का विकास उस सत्य तक संभव है जहां जो तर्क से सर्वश्रेष्ठ

*इस अनुच्छेद की ईसाई और योरोप केन्द्रिकता तो स्पष्ट ही है पर यहां ध्यान देने की बात यह है कि इस विवेचना में नैतिकता को मजहब पर - ईश्वर के बारे में ज्ञान पर - आधारित माना है । यह चिंतन धारा पश्चिमी मजहबों की है, जहां नैतिकता ईश्वरीय आदेश पर आधारित होती है । भारतीय चिंतन में नैतिक अच्छे-बुरे का अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी है । यहां नैतिकता सदा ही ईश्वर या मजहब का मुंह नहीं देखती रही है ।

सिद्ध होता है वहीं हमें भावनात्मक स्तर पर भी श्रेष्ठ लगने लगे । यदि यह सत्य हो तो आलोचनात्मक विचारणा व्यक्ति की नैतिक मातृ-भाषा के मूल्यांकन में समर्थ बन सकती है जिससे नैतिक प्रगति की संभावना बनी रह सके । फिर चाहे व्यक्ति के हृदय की नैतिक भाषा उसकी मातृ भाषा ही रहे । इस विवेचना के अनुसार नैतिक प्रगति पीढ़ियों के बीच होगी, एक ही पीढ़ी में नहीं । प्रत्येक पीढ़ी की भावनायें उस के कर्मों को नियंत्रित रखेंगी यदि उसकी जुबान को नियंत्रित न रख सकीं तो भी ।

तीसरी संभावना । यदि उपरोक्त तरह से या अन्य किसी भी तरह से कोई नैतिक समुदाय बेहतर नैतिक निष्कर्षों पर सामूहिक रूप से पहुंचने में सफल होता है तो संभावना है कि वह समुदाय अपने आप को नये लिखित या अलिखित नैतिक नियमों से नियंत्रित करे । क्योंकि ये नये नियम समुदाय के स्वयं के बनाये होंगे । अतः अधिक समझदारी पूर्ण तरीके से नैतिक व्यवहार की प्रेरणा बन सकेंगे ।

चौथी और अंतिम संभावना । यदि बच्चों को कारण देने एवं कारणों की मांग करने; नैतिक कारणों सहित; की आदतों में प्रवर्तन किया जाये तो वे नैतिक रूप से गंभीर बनेंगे और साथ ही आलोचनात्मक विचारणा के प्रति प्रतिबद्ध भी । वे अपने आप को नैतिक एवं सत्य-प्रेमी के रूप में देखने लगे और इस आत्म-छवि से प्रेरित होंगे । इस तरह अभिप्रेरित व्यक्ति नैतिक स्वच्छाचारिता से बच सकेगा । क्योंकि स्वार्थी होना एवं स्वयं को अपवाद मानना नैतिक बने रहने की इच्छा से संगत नहीं होगा । यदि इस बात पर विचार करने की आदत विकसित हो चुकी है कि कैसे तर्क को कारण के रूप में स्वीकार किया जाये और कैसे तर्क को नहीं, तो यह समझना कठिन है कि इस प्रकार का लालन-पालन अपनी स्वयं की भावनाओं एवं दृष्टि की विवेचना में बाधक कैसे हो पायेगा? अर्थात् किसी चीज को सत्य या असत्य मानने के लिए कारणों की मांग करने वाला व्यक्ति उस नैतिकता की विवेचना करने में भी समर्थ होगा जिसकी शिक्षा उसे बचपन से ही मिली है । और इस प्रकार सतत नैतिक रूप से प्रगतिशील रहेगा । इस विकल्प में यह कल्पना निहित है कि बौद्धिक सद्गुणों का उद्भव तर्क के मानदण्डों के अनुसार प्रशिक्षण या अभ्यास में से होता है । यह कल्पना भी निहित है कि सद्गुणों या सदाचारण के अभ्यास या प्रशिक्षण में कारण देना एवं कारणों की मांग करने का अभ्यास भी समाहित है । अर्थात् स्वयं जो करते या सोचते हैं उसके यथेष्ट कारण प्रस्तुत कर पाना तथा दूसरों द्वारा प्रस्तुत समुचित कारणों का सम्मान करने का अभ्यास ।

यह अंतिम विकल्प कई प्रकार से सर्वाधिक आकर्षक है तथा नैतिक शिक्षा कैसे की जाये, इस बारे में सर्वाधिक उपयुक्त सुझाव को प्रस्तुत करता है । पर अब मैं इस विषय को पाठक के लिए छोड़ता हूँ और सिफारिश करता हूँ कि पाठक इसको आगे बढ़ायें ।◆